पहचान के मोह से बाहर निकलें दलित

आनंद तेलतुम्बडे

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन ने कई बड़ी उपलब्धियां हासिल कीं। सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इस आंदोलन का दायरा धर्म और समाज से आगे बढ़कर राजनीति के क्षेत्र तक विस्तृत हो गया। राजनीति में आने से दलितों को पहले से कहीं ज्यादा अवसर मिले। इसका पहला नतीजा यह हुआ कि अलग-अलग दलित जातियों को मिलाकर एक एकीकृत 'अनुसूचित जाति' नामक प्रशासनिक पहचान दी गई, जिससे उनका हिंदू धर्म से जुड़ा धार्मिक-अनुष्ठानिक बंधन टूट गया। इस पहचान के सहारे उन्होंने कई फ़ायदे हासिल किए। अंग्रेज़ी शासन के दौरान उन्हें कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकार मिले, जैसे – अलग चुनाव क्षेत्र (हालांकि गांधी के दबाव में इसे छोड़ना पड़ा और बदले में ज्यादा आरक्षित सीटें मिलीं), नौकरियों और पढ़ाई में आरक्षण, और यह मान्यता कि वे एक 'विशेष समुदाय' हैं जिन्हें राज्य और समाज दोनों से विशेष सुविधाएं मिलनी चाहिए।

इन लाभों का इस्तेमाल जाति-उन्मूलन के लक्ष्य की तरफ़ तेज़ी से बढ़ने के लिए किया जा सकता था। यदि इन नीतियों को कल्पनाशील तरीक़े से बनाया गया होता और समाज को यह एहसास कराया गया होता कि ये नीतियां इसलिए जरूरी हैं क्योंकि वह अपने सभी सदस्यों के साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करता, तो समाज को अपनी इस कमी को दूर करने की प्रेरणा मिली होती। यानी यह ज़िम्मेदारी समाज को ही सौंपी गई होती कि वह इस असमानता को दूर करे तो इससे जातिप्रथा ख़त्म करने का लक्ष्य हासिल हो सकता था। हालात ने इस लक्ष्य को पास ला दिया था, लेकिन इस मौक़े को जानबूझकर खो दिया गया।

प्रतिरोध के समय, 2025, विक्रांत भिसे

संवैधानिक भ्रमजाल

जब भारत का संविधान लिखा गया, तब इन संभावनाओं को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया। अनुसूचित जातियों की जड़ हो चुकी अवधारणा को सैकड़ों दलित जातियों और हिंदू मूल से जोड़कर उसे पुनर्जीवित किया गया। औपनिवेशिक काल में अनुसूचित जातियों के पक्ष में जिस 'असाधारणता' का सिद्धांत अपनाकर आरक्षण नीति बनाई गई थी, उसे छोड़ दिया गया और इसे अन्य समूहों (जनजातियों) तक बढ़ा दिया गया। अब इसका एक अस्पष्ट आधार पिछड़ापन बना दिया गया ताकि यह नीति खुली रहे और ज़रूरत पड़ने पर इसे दूसरों पर भी लागू किया जा सके। वास्तव में, यह स्पष्ट किया गया था कि राज्य सामाजिक न्याय के नाम पर अन्य जातियों की पहचान करेगा और उन तक भी इन नीतियों का विस्तार करेगा। यह सब जातियों को बनाए रखने के लिए किया गया प्रतीत होता है। दूसरी ओर, संविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' को शामिल करने से बचा गया ताकि धर्म को संरक्षित किया जा सके। बहाना यह था कि राज्य को धार्मिक सुधार करने की जगह मिलनी चाहिए। लेकिन आज पीछे मुड़कर देखें तो साफ़ दिखता है कि इससे किसको फ़ायदा हुआ। इन हथियारों के साथ और फर्स्ट पास्ट द पोस्ट (एफपीटीपी) चुनाव प्रणाली — जो भारत जैसे देश के लिए सबसे अनुपयुक्त प्रणाली थी — का इस्तेमाल कर शासक वर्गों ने यह सुनिश्चित किया कि वे लोकतंत्र का मुखौटा पहनकर हमेशा शासन करते रहेंगे। दलित कभी समझ ही नहीं पाए कि वे इस धूर्ततापूर्ण खेल में शासक वर्गों के सबसे बड़े मोहरे बना दिए गए।

यही वह कुचक्र है जिसने देश को पूरी तरह से जाति-प्रधान बना दिया है, जिससे जातियों का उन्मूलन और इस प्रकार दलितों की मुक्ति अकल्पनीय हो गई है। दलितों की दुर्दशा वास्तव में जाति और धर्म को बनाए रखने और एफपीटीपी चुनाव प्रणाली को अपनाने की संवैधानिक कुचक्रों से जुड़ी है। क्या इन ग़लतियों को सुधारा जा सकता है? इसका उत्तर आंशिक रूप से 'हां' हो सकता है। यदि बड़ी संख्या में लोग इसकी मांग के लिए लामबंद हों, तो शायद चुनाव प्रणाली को विशेष आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बदला जा सकता है। हालांकि यह संसदीय ढांचे के भीतर ही संभव है और इससे किसी को ख़तरा भी नहीं है, लेकिन विरोध का सामना करना पड़ सकता है।

अगर व्यवस्था बदलने से सत्ता पर क़ब्ज़ा खोने का डर होगा, तो विरोध बहुत बड़ा हो सकता है। लेकिन मान लें बदलाव हो गया, तो दलित शासक वर्गों की छाया से निकलकर अपना अलग प्रतिनिधित्व पा सकेंगे। इससे शायद जातियां पूरी तरह ख़त्म न हों, पर छोटे समूह अपने प्रतिनिधित्व की गारंटी मिलने पर खुद ही जुड़ने लगेंगे। अभी की तरह उन्हें शासक वर्गों का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। इस नई व्यवस्था में जाति और समुदायों की अहमियत कम हो जाएगी। वे शायद पूरी तरह तो न मिटें, लेकिन बिना खाद-पानी वे बहुत कमज़ोर हो जाएंगे।

पलायन 1, 2021, विक्रांत भिसे

जाति-वर्ग की जटिलता

शासक वर्गों की इन सारी चालों ने दलितों को इस तरह ढाला कि शासक वर्ग और मज़बूत हो सके। आरक्षण नीति ने एक छोटा-सा मध्यवर्ग तैयार किया जो शहरों में रहने वाला, मानसिक रूप से कमज़ोर, राजनीतिक रूप से शक्तिहीन और सामाजिक रूप से अलग-थलग था। फिर भी वही वर्ग पूरे दलित समाज की ओर राय देने लगा, बिना यह समझे कि दलितों की असली समस्या क्या है। दलित आंदोलन की शुरुआत के समय, कुछ अमीर व्यक्तियों को छोड़कर, ज़्यादातर दलित एक समान और संगठित समूह थे। उत्तर-औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने विशाल दलित जनसमूह के भीतर एक छोटा विशिष्ट वर्ग तो पैदा किया, लेकिन इससे दलित और भी कमज़ोर हुए। समकालीन भारत में दलित एक विषम समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो केवल पारंपरिक जातियों और धर्मों में ही नहीं, बल्कि आधुनिक वर्गों और आकांक्षाओं में भी विभाजित हैं। उनकी पहचान केवल दूसरों (ग़ैर-दलितों) के संदर्भ में और प्रशासनिक वर्गीकरण के रूप में अनुसूचित जातियों के तौर पर ही संभव हो पाती है। यद्यपि उनमें से एक अत्यंत छोटा हिस्सा उल्लेखनीय प्रगति कर चुका है, लेकिन दलितों का विशाल बहुमत अब भी पिछड़ेपन और दु:ख-दर्द में फंसा हुआ है। इसलिए दलितों के भविष्य पर सामान्य रूप से बात नहीं की जा सकती, बल्कि उसे उनकी वर्गीय स्थिति के अनुसार विशेष रूप से समझना होगा।

हालांकि शहरों में रहने वाले दलितों का सबसे आगे बढ़ा हुआ हिस्सा भी आज ऊंची जातियों जैसी पक्षपाती दृष्टि से ग्रस्त हो सकता है, परंतु यह स्थिति अधिक समय तक टिकेगी नहीं। वे अपने वर्ग के बीच रहते हैं, समान जीवन-स्तर और

सामाजिक नेटवर्क का आनंद लेते हैं और परिवारों में कुछ अंतरजातीय विवाह भी हुए हैं। आने वाली पीढ़ियां इस भेद को बनाए नहीं रख पाएंगी क्योंकि वे (दलित और ग़ैर-दलित दोनों) स्वयं अपनी-अपनी जातियों से पुराना रिश्ता खो देंगे। हमें यह साफ़ समझना होगा कि जाति के ख़ात्मे का मतलब असल में क्या है। दुनिया के उन समाजों में भी जहां जाति नहीं है, लोग बिल्कुल गुमनाम या अलग-थलग नहीं रहते। मसलन एक जैसे पर वाले पक्षी साथ उड़ते हैं, वैसे ही मिलते-जुलते स्वभाव या आदतों वाले लोग भी ज़्यादा क़रीब आते हैं। यह फ़र्क़ तो हर समाज में होता है और इसमें कोई बुराई नहीं है। लेकिन सिर्फ़ फ़र्क़ होना जाति नहीं है ; जब फ़र्क़ ज़हर बन जाए और भेदभाव करने लगे, तभी वह जाति का रोग बनता है। वैसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऊंचे तबक़े के दलित धीरे-धीरे जाति की समस्या से बाहर निकल जाएंगे।

लेकिन नीचे के तबक़ों के लिए यह आसान नहीं है। जैसे-जैसे वे समाज की सीढ़ी पर नीचे जाते हैं, वैसे-वैसे उनका अलग-थलग रहना और बढ़ जाता है। उनकी जाति की पहचान जस की तस बनी रहती है। जब जीने-खाने का संकट गहराता है, तो वे अपनी जाति की पहचान में और सिमट जाते हैं और 'दूसरों' से दूरी बनाने लगते हैं। ऐसे हालात में जाति की सोच कम नहीं होगी, बल्कि संकट बढ़ने पर यह और तेज़ होगी, क्योंकि आसपास रहने वाले दूसरे समाज के लोग इसका ठीकरा दूसरों पर फोड़ने लगते हैं। जैसे, ग़ैर-दलित समाज का बेरोज़गार नौजवान यह मान लेता है कि उसकी हालत के लिए वे दलित ज़िम्मेदार हैं जिन्हें नौकरी में आरक्षण मिला है। उनका दलित जाति से होना ही उसके ग़ुस्से को सही ठहराने के लिए काफ़ी माना जाता है। दूसरी तरफ़, दलित नौजवान भी अपनी हालत का दोष ग़ैर-दलितों पर डालता है, भले ही उसकी बेरोज़गारी और ग़ैर-दलितों के बीच सीधा कारण न जुड़ता हो। यह सोच आमतौर पर दबी रहती है, लेकिन ज़रा-सी चिंगारी से भड़क उठती है। नेता लोग लगातार इसे हवा देते रहते हैं, क्योंकि उनकी राजनीति इन्हीं फ़र्क़ों पर टिकती है। इस तरह जातियां एक ख़ास तरह की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से जुड़ जाती हैं, जो ज़्यादातर लोगों के लिए संकट पैदा करती है और उसे एक अजीब-सी राजनीति के सहारे ज़िंदा रखती है।

यह बड़ा मासूम ख़याल है कि नवउदारवादी पूंजीवाद के दौर में जाति एक अप्रासंगिक संस्था बन चुकी है और इसलिए अपने आप समाप्त हो जाएगी। जैसा कि देखा जा सकता है, बीते वक़्त की अधिकतर सामाजिक कुप्रथाएं न केवल जीवित हैं, बल्कि वर्तमान समय में और भी फल-फूल रही हैं। पुरानी संस्थाओं की जड़ता और उनके लचीलेपन को अकसर बहुत कम आंका जाता है। पुराने रीति-रिवाज़ और परंपराएं केवल बने ही नहीं रहते, बल्कि वे नई परिस्थितियों के साथ स्वयं को ढालते हैं, अपने रूप में बदलाव लाते हैं और नए-नए रूपों में प्रकट होते हैं। केवल तभी उनके लुप्त होने की अपेक्षा की जा सकती है, जब उनके लिए भौतिक आधार पूरी तरह नष्ट हो जाए। भारत में जाति एक अनूठी संस्था रही है, जो लोगों की ज़िंदगी के साथ गहराई से जुड़ी थी। इसी वजह से उसमें टिके रहने की ताक़त और लचीलापन पैदा हुआ। इतिहास इसका गवाह है।

औपनिवेशिक काल में समाज में जितने बड़े बदलाव आए, जातियों ने उनके मुताबिक अपने आप को ढाल लिया। जब पूंजीवाद आया तो उसका असर यह हुआ कि द्विज जातियों का आनुष्ठानिक आधार कमज़ोर हो गया और वे एक आभासी उच्च जाति-समूह में सिमट गईं। उत्तर-औपनिवेशिक काल में, हरित क्रांति के ज़रिए ग्रामीण इलाक़ों में पूंजीवादी संबंधों के प्रसार ने शूद्र जातियों के साथ भी ऐसा ही किया, उन्हें द्विज जातियों से जोड़ दिया और शास्त्रीय जाति पदानुक्रम को दलितों और ग़ैर-दलितों के बीच एक वर्ग जैसे विभाजन में बदल दिया। धीरे-धीरे दलित ही पूरी जाति-प्रथा का प्रतीक बन गए, और समाज को जहां तक जातियों का फ़ायदा दिखा, उसने उन्हें बनाए रखा।

प्रतिनिधित्व का तर्क

दलित आंदोलन के मूल में प्रतिनिधित्व की मांग रही है। इसका कहना है कि यदि कुछ दलित शासन की महत्त्वपूर्ण जगहों तक पहुंचें — अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में — तो वे पूरे समुदाय के हितों की रक्षा और उन्नति करेंगे। यह तर्क प्रतिनिधि लोकतंत्र की तर्क-प्रणाली के समान है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि जब भी लोग सामुदायिक पहचान के साथ संगठित होते हैं तो वे प्रतिनिधित्व की मांग करते हैं। डॉ. आंबेडकर के शब्दों में, दलितों के लिए, जिनके पास किसी भी प्रकार की शक्ति नहीं थी, अपेक्षाकृत सक्षम लोगों के प्रतिनिधित्व पर निर्भर रहना और भी आवश्यक था। प्रारंभिक सत्याग्रहों को छोड़कर डॉ. आंबेडकर का पूरा संघर्ष दलितों के लिए प्रतिनिधित्व हासिल करने का संघर्ष था, जो अंततः आरक्षण के रूप में सामने आया। इस संघर्ष का तरीक़ा भी प्रतिनिधित्व पर ही टिका रहा, यानी इसमें आम लोगों की भागीदारी ज़्यादा नहीं थी। डॉ. आंबेडकर को इसकी शुरुआती कमज़ोरियों का एहसास हुआ था, लेकिन उन्होंने इसका कारण प्रतिनिधियों के स्वभाव को माना। जैसे लोकतंत्र में होता है, वैसे ही यहां भी सफलता इस पर निर्भर करती है कि लोग अपने प्रतिनिधियों पर नज़र रखें, वरना वे मनमानी कर सकते हैं। लोगों में यह ताक़त तभी आती है जब वे समाज के अलग-अलग क्षेत्रों के संघर्षों में सीधे भाग लेते हैं। रणनीति के हिसाब से संघर्ष लोगों की अपनी आंतरिक ताक़त पर आधारित होना चाहिए।

अय्यंकाली ने अकेले ही दिखा दिया कि दलितों की शारीरिक ताक़त कितनी असरदार हो सकती है। डॉ. आंबेडकर ने इसे बड़े स्तर पर आगे बढ़ाया, लेकिन उस मूल ताक़त से यह कुछ हद तक अलग हो गया। दलित आंदोलन की अधिकांश कमियां —जैसे नेताओं पर ज़्यादा भरोसा, अवसरवाद और असमानताएं—असल में इसी शुरुआती तरीक़े की देन हैं। सवाल यह है कि क्या दलित अपने अतीत की ग़लतियों को समझकर सुधार करेंगे या फिर केवल अपनी पहचान में उलझकर ख़ुश रहेंगे? आज के हालात ने दलितों की जातिगत पहचान के सवाल को पहले से कहीं ज़्यादा प्रमुख बना दिया है। क्या दलित अपने कलंकित अस्तित्व को स्वीकार करेंगे या उससे ऊपर उठेंगे? क्या वे अपनी उपजातियों के छोटे-छोटे खोलों में बंटकर संतुष्ट रहेंगे या उन्हें तोड़कर, एकजुट होकर व्यवस्था को चुनौती देंगे? क्या वे ख़ुद को पहचान की जेलों में बंद कर लेंगे या उन जेलों को तोड़कर मुक्ति का रास्ता चुनेंगे? संक्षेप में, क्या वे जातियों को बनाए

रखना चाहेंगे या उन्हें समाप्त करना ?

इससे जुड़ा, लेकिन और जटिल सवाल व्यक्तिगत प्रगति और समृद्धि का है। यह हमेशा से मौजूद रहा है, पर मुक्त बाज़ार की सोच ने इसे अपना नारा बना लिया है। असली सवाल यह है कि क्या दलित भी शासकों के इस कोरस में शामिल होंगे या फिर इसका जवाब स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के नारे से देंगे।

चैत्यभूमि : महान व्यक्ति के परिनिर्वाण पर जमघट, 2023, विक्रांत भिसे

संकट की पहचान

यह सवाल और गंभीर हो गया है क्योंकि हिंदुत्व फिर से उभर रहा है – यानी पुरानी ब्राह्मणवादी व्यवस्था की ओर वापसी, जिसे आधुनिक समय के फासीवादी तरीक़ों के साथ जोड़ दिया गया है। इसने दलितों की वे उपलब्धियां लगभग ख़त्म कर दीं, जो उन्होंने अंग्रेज़ों के समय पाई थीं। आंबेडकर ने उन दिनों में कई अधिकार दिलवाए थे, लेकिन जैसे ही सत्ता देशी अभिजात वर्ग के हाथ में आई, उनके लिए छोटी सफलता भी मुश्किल हो गई। दलित इस बात पर गर्व करते हैं कि वे संविधान के शिल्पकार और देश के पहले क़ानून मंत्री थे, परंतु यह नहीं समझते कि यह शासक अभिजात वर्ग की ओर से गांधी की रणनीति थी—ताकि भारतीय समाज के वंचित तबक़ों से अधिकतम सहमति हासिल की जा सके, यह दिखाकर कि संविधान उनके ही प्रतीक-पुरुष ने लिखा है। यह रणनीति कितनी सफल रही है, यह दलितों की संविधान के प्रति अंधभक्ति और भारत के प्रगतिशील तबक़ों द्वारा उसकी बिना आलोचना किए प्रशंसा से साफ़ दिखाई देता है। आंबेडकर ने अपने जीवनकाल में ही इस चाल को समझ लिया था, लेकिन दलित अब भी अपने भ्रम पर टिके हुए हैं। उत्तर

औपनिवेशिक काल के विभिन्न दशकों में शिक्षा के फैलाव और आर्थिक समृद्धि की सीढ़ियां चढ़ने में उनके एक छोटे हिस्से की जो उपलब्धियां थीं, उन्होंने दलितों को एक समुदाय के रूप में मज़बूत करने के बजाय और कमज़ोर कर दिया। जो लोग ऊपर उठे, वे वास्तव में समुदाय के निवेश (संसाधनों और कई स्तरों पर कोशिशों के ज़रिए) की देन थे, लेकिन वे अपने समुदाय से कट गए। उन्होंने समुदाय को सामाजिक, वैचारिक और राजनीतिक स्तर पर बांटकर कमज़ोर किया और मुक्ति की प्रक्रिया में निहित जातिगत पहचान की जकड़न को और मज़बूत कर दिया।

आंबेडकर के अंतिम क़दम, बौद्ध धर्म में धर्मांतरण ने पहचान के आधिक्य में एक और पहचान जोड़ दी। आज के दलित उलझन में पड़े हुए नज़र आते हैं, जिनके पास न तो अतीत को समझने के औज़ार हैं और न ही उन तेज़ी से बदलती घटनाओं को समझने की क्षमता, जो उन्हें लगातार घेर रही हैं।

जैसा कि पहले कहा गया, यद्यपि यह दुखद है, लेकिन 2014 के बाद से जो भी प्रतिगामी घटनाएं हुई हैं और हो रही हैं, वे उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की संरचना में पहले से ही निहित थीं। ध्यान देने की बात है कि हिंदुत्व की ताक़तों ने संविधान का एक भी कॉमा या सेमी कोलन बदले बिना यह सब किया। भाजपा की कुछ झूठी या बढ़ा-चढ़ाकर कही गई बातों को नज़रअंदाज़ भी कर दें, तब भी अपने हर बुरे कृत्य के लिए उसके द्वारा पुरानी मिसालें पेश करना, इस राज्य के असली चरित्र को दिखाता है। फिलहाल, इस बात को समझना दलितों के लिए अपनी मौजूदा हालत को समझने के लिए जरूरी हो सकता है।

भविष्य के राज्य की कल्पना करें तो वह ब्राह्मणवादी विचारधारा, फासीवादी तरीक़ों और आधुनिक तकनीक का मिश्रण होगा—एक ऐसा शक्तिशाली ढांचा, जिसका सामना करना आसान नहीं होगा। ब्राह्मणवादी विचारधारा, जिसने हज़ारों सालों तक अपना अस्तित्व बनाए रखा, फासीवाद जिसे केवल गृहयुद्धों और द्वितीय विश्वयुद्ध के ज़रिए ही हराया जा सका (और जिसकी पुनरावृत्ति के बारे में भविष्य में सोचना भी कठिन है) तथा आधुनिक तकनीक जो शासकों को असीम निगरानी की ताक़त देती है—ये सब मिलकर इस ख़तरे की व्यापकता को दिखाते हैं।

दुनिया भर में उभरी दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया की लहर, जिसने मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा को अपने हिंदुत्व रथ को आगे बढ़ाने में मदद की, दरअसल उस ख़तरे की सार्वभौमिक प्रकृति को दर्शाती है जो पूरी मानवता के सामने आकार ले रहा है। इसका सामना केवल उसी स्तर की प्रतिक्रिया से किया जा सकता है—मानवतावादी ताक़तों की वैश्विक एकता से। इस दिशा में पहला क़दम पहचान के मोह से निकलना और हर इलाक़े में लोगों की व्यापक एकता का निर्माण करना होगा। दलितों के लिए यह और भी ज्यादा ज़रूरी है, क्योंकि उनकी पहचान जिस जाति से आती है, वही मूल रूप से विभाजनकारी है। अब समय आ गया है कि वे समझें कि उनकी मुक्ति संकीर्ण और जातिवादी लाभ में नहीं, बल्कि आंबेडकर के 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' के सार्वभौमिक दृष्टिकोण को अपनाने में है।

अनुवाद: संजय कुंदन

(दलित्स: पास्ट, प्रेजेंट एंड फ्यूचर से साभार)